श्रीचक्र

श्रीविद्या के यन्त्र को "**श्रीचक्र**" कहते है। इसमें जो 'श्री' शब्द आया है, वह श्रीविद्या का वाचक है और 'चक्र' शब्द स्वरूप यन्त्र का। केवल वही एक ऐसा चक्र है, जो समस्त ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। यह प्रणव स्वरूप शब्द ब्रह्म का ही प्रतीक है। वह परब्रह्मस्वरूपिणी आदि प्रकृतिमयी श्रीविद्या रूप महात्रिपुर-सुन्दरी का आराधना स्थान है। यह उनका दिव्य धाम है, दिव्य रूप है। इसका सन्निवेश मनोहर है। इसमें समस्त देवताओं की आराधना और सभी प्रकार की उपासनायें होती हैं। इसमें सभी आत्माओं का, सभी कर्मों को, सभी आचारों का, सभी विद्याओं का एवं सभी तत्त्वों का समावेश होता है। इसमें सभी वर्णों के, सभी आश्रमों के, सभी सम्प्रदायों के, सभी प्रकार के अधिकारी उपासक रूप में प्रविष्ट हो सकते हैं। इसमें सभी के लिये अवकाश है।

सन्निवेश और विन्यास

श्रीचक्र का सन्निवेश मनोहर है और उसका विन्यास विचित्र है। इसके बीचों बीच में बिन्दु और सबसे बाहर भूपुर है, पर्यन्त में इसके कुल १० प्रकार के अवयव होते हैं- बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल, षोडशदल तीन वृत्त और तीन भूपुर। पूजा के अवसर पर बिन्दु भी तीन माने जाते हैं, जिससे कि इसके कुल सोलह अवयव हो जाते है। इसमें त्रिकोण से लेकर चतुर्दशार पर्यन्त जो पाँच अवयव है, वे एक के बाद एक इस तरह परस्पर अनुस्यूत होते है कि जिससे इनके अन्य कई अवान्तर कोण एवं रेखाएँ बन जाती है। फिर चतुर्दशार के जो कोण होते हैं, उनकी नोके बाहर वाले अष्टदल के साथ मिली होती है, जिनके कारण और भी कई कोष्ठ और कोण बन जाते हैं जिनको यहाँ "**स्पन्दी चक्र**" भी कहते हैं। इनमें बिन्दु, अष्टदल, षोडशदल, त्रिवृत्त और चतुरस्र को शिव का अंश और त्रिकोण, अष्टकोण, दो दशकोण और चतुर्दशार को शक्ति का अंश माना जाता है। इस प्रकार ५ शिव त्रिकोण और चतुर्दशार को शक्ति के मिलने से परस्पर कटकर कुल तैंतालीस कोण बन जाते हैं। बाहर जो भूपुर हैं वे एक प्रकार के आकार या दुर्ग से दिखते हैं। इस तरह इसका

विन्यास अतीव मनोहर होता है और मनोहर होते हुए ही जटिल भी है। इसलिए यह श्रीपुर अर्थात् श्रीविद्या का पुर भी कहा जाता है।

आगमों में इस चक्र का एक दिव्य द्वीप के रूप में वर्णन किया गया है। दिव्य नगर के रूप में इसका निरूपण हुआ है, क्योंकि कोषकारों ने चक्र शब्द का अर्थ नगर भी बताया है। रक्त वर्ण सुधा समुद्र से घिरा हुआ यह "**रत्नद्वीप**" है। इसमें कल्प वृक्ष पारिजात को लेकर सभी प्रकार के फल-फूल और लता वनस्पतियों से हरे-भरे दिव्य-नन्दन-उद्यान के बीच में अनन्त योजन विस्तीर्ण रत्न आकार के भीतर अवस्थित इस पुर के मध्य में रत्न सिंहासन पर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायिका श्री महात्रिपुरसुन्दरी विराजमान हैं। यह पुर चक्राकार है। इसी का प्रतीक श्री चक्र है। इसी चक्राकार रथ में चढ़कर सम्पूर्ण देव-देवी, योगिनी आदि अपनी विभूतियों के चक्र अर्थात् समूह से परिवृत होकर देवी ने भण्डासुर का संहार किया था। इस कथा से भी श्रीचक्र का चक्राकार द्वीप पुर अथवा सर्वतः स्वविभूति-परिवृति आदि शक्ति का ही प्रतीक होना सिद्ध होता है। इस चक्र का मध्यवर्ती बिन्दु शिव का और त्रिकोण शक्ति का स्थान और रथ भी। फिर इन दोनों का समन्वय होने पर समरसी भाव से स्थित शिवशक्ति- रथ साक्षात् परब्रह्म एवं उनकी विद्रूपा आदि शक्ति के एकीभाव का प्रतीक यही बिन्दु होता है। इस तरह यह बिन्दु श्री महात्रिपुर सुन्दरी का केन्द्र बिन्दु होता है और श्री-चक्र-रथपुर सभी देवताओं का आवास। कहने का तात्पर्य यह है कि वही महात्रिपुर सुन्दरी विभिन्न देवता रूप अपनी विभूतियों से इस पुर को व्याप्त कर इसके बीच में बैठती हैं। इसलिये यह श्रीचक्र उनका भी प्रतीक है। फिर मेरुपृष्ठ में आकार में यह चक्र जब ऊपर को उठा हुआ ऊँचें आकार का होता है तब वह समस्त ब्रह्माण्ड को सम्भाले हुये सुमेरु पर्वत के प्रतीक रूप में खड़ा होता है और पुराणों में वर्णित सुमेरु पर अवस्थित लोकों का इसमें समन्वय होता है। समस्त में मेरु को नवार्ण रूप में कहा है और श्रीचक्र को "मेरु" माना है। यथा-

श्रीचक्रमपि देवेशि! मेरुरूपं न संशयः (ज्ञानार्णव)

लकारात् पृथिवी देवी सशैलवनकानना।
सकाराच्चन्द्रताराादि ग्रहराशिस्वरूपिणी ।। *(इत्यादि)*

सम्प्रदायगत विशेषता

श्रीचक्र के मुख्य ३ सम्प्रदाय है। हयग्रीव सम्प्रदाय, आनन्द भैरव सम्प्रदाय, और दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय। इनमें हयग्रीव सम्प्रदाय में त्रिवृत्त नहीं होता, आनन्द-भैरव सम्प्रदाय में त्रिवृत्त तो होता है, किन्तु उसमें पूजा नहीं होती एवं दक्षिणा-मूर्ति-सम्प्रदाय में श्रीचक्र में त्रिवृत्त भी होता है और उसमें पूजा भी होती है।

प्रकार और प्रस्तार

बनावट की दृष्टि से श्रीचक्र के कुल तीन प्रकार होते हैं:- भू-पृष्ठ, कच्छप पृष्ठ और मेरुपृष्ठ। इनमें जो समतल होता है उसको भू-पृष्ठ, जो कछुए की पीठ की तरह उठा हुआ होता है उसको कच्छप-पृष्ठ और जो सुमेरु पर्वत की तरह अपने अनुपात में पूरा ऊपर तक उठा हुआ होता है उसको मेरु-प्रस्तार कहते हैं। इनके अवान्तर नाम भी क्रमशः यह हैं- मेरु प्रस्तार, कैलास-प्रस्तार और भू-प्रस्तार। इनका उपयोग एक तो यथा क्रम कामेश्वरी आदि नित्याओं और वशिन्यादि वाग्देवताओं के, संक्षोभिणी आदि मुद्राओं के तथा अणिमादि सिद्धिओं तादात्म्य में होता है। दूसरा सृष्ट्यादि क्रममूलक पूजा के लिए एवं भिन्न-भिन्न आश्रमों के लिए होता है। क्योंकि शास्त्र में मेरु प्रस्तार में संहार क्रम से पूजा न करके सृष्टि क्रम से करने को कहा है एवं संहार क्रम से पूजा कैलास प्रस्तार में और स्थितिक्रम से पूजा भू प्रस्तार में बताई गई है। यथा-

मेरुचक्रे तु संहार क्रम पूजा न विद्यते।
सृष्टि क्रमेण देवेशि पूजनीयं प्रयत्नतः।।
संहारपूजा कैलासप्रस्तारेऽत्र विधीयते।
भू-प्रस्तारे महेशानि स्थितिपूजा सदोत्तमा।।

।।श्री विद्यार्णव।।

इसी तरह गृहस्थ को स्थितिक्रम से, वानप्रस्थ और यति को संहारक्रम से, ब्रह्मचारी को सृष्टिक्रम से और स्त्री तथा शूद्र को इष्टदेवता स्वरूप गुरु की आज्ञा के अनुसार पूजा करने को कहा गया है। यथा-

स्थिति क्रमो गृहस्थस्य संहारो वनिनोयतेः।
ब्रह्मचारिण उत्पत्तिः स्त्रिय-शूद्रस्य चेष्टतः।।

तथा इसकी परिभाषा-

सृष्टिक्रमं मेरुचक्रं कैलासं चार्धमेरुक्रम् ।
संहाराख्यं महेशानि भूप्रस्तारं स्थितिक्रमम् ।।

निर्माण और रचना

श्रीचक्र-स्फटिक आदि शिला, मरकत आदि मणि, सुवर्ण आदि धातु प्रभृति में बारीकी से काटकर, खोदकर समतल अथवा उभरा हुआ दोनों प्रकार का बनाया जा सकता है। फिर ऐसे ही समतल मणि, शिला, धातु आदि में चन्दन, कुङ्कुम, रोचना आदि से लिखकर भी बनाया जा सकता है। गहरा उभरा जो भी हो, पूजा के अवसर पर इसके ऊपर चन्दनादिद्वारा फिर से अपने सम्प्रदाय और क्रम के अनुसार रेखा भरनी चाहिये। यन्त्र लिखते समय उपासकों को चाहिये कि वह अपने सम्प्रदाय-क्रम या कामना के अनुसार पूजा, जिन स्थल से आरम्भ करना हो ठीक उसी स्थल से रेखा का उपक्रम करें और जहां पर जाकर पूजा का पर्यावसान करना हो, वहीं पर उसका उपसंहार करें। यदि चक्र की रेखायें खोदकर बनाई गई और गहरी हों तो ऊपर कहे अनुसार उनमें चन्दनादि भरकर ही पूजा करनी चाहिये। यहाँ पर और एक बात ध्यान देने योग्य है कि पट, पलक, भित्ति आदि में श्रीचक्र लिखकर पूजा करना वर्जित है।

स्वरूप

बिन्दु से लेकर भूपुर पर्यन्त श्री चक्र को तीन रूपों में विभक्त किया है उनमें भूपुर से अष्टदल को सृष्टिचक्र, चतुर्दशार तक को स्थिति चक्र और अष्टार से बिन्दु तक को संहार चक्र माना है। फिर इन तीनों चक्रों को त्रिपुर भी कहते है। इसी त्रिपुर स्वरूप श्रीचक्र की प्रधान नायिका होने के कारण इसकी अधिष्ठात्री भगवती आदि शक्ति "श्री महात्रिपुर सुन्दरी" नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनका मुख्य स्थान बिन्दु है। बिन्दु इनका प्रतीक भी है, इनके स्वरूप का द्योतक भी है। जैसे अन्यत्र बिन्दु से ही सभी प्रकार की रेखाएँ और कोण आदि बनते हैं, इसी तरह यहाँ बिन्दु से ही श्रीचक्र की समस्त रेखाएं और कोण बनते हैं, जो वास्तव में सर्वदेवता स्वरूप हैं और केन्द्रवर्ती प्रधान देवता के विविध विभूति स्वरूप हैं। इस चक्र में भूपुर वृत्त, त्रिकोण आदि हैं, वे सब तीन-तीन काल, तीन अवस्थाएँ, तीन लोक, तीन देवता आदि के स्वरूप के द्योतक हैं। जहाँ त्रिकोण के तीन कोण जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप

तीन अवस्थाएँ होती हैं, वहाँ बिन्दु तुरीय अवस्था स्वरूप हो जाता है और यही बिन्दु फिर तुरीयातीत होकर एक रूप में आ जाता है और इसी तत्त्व से समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते है, जैसा कि कहा है-

तत्त्वाद् ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तत्त्वेन परिवर्धते।
तत्वे विलीयते देवि तत्वाद् ब्रह्माण्डनिर्णयः।। *।।आगम कल्पद्रुम।।*

इस तत्त्व का वही परब्रह्मस्वरूपिणी अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायिका महात्रिपुर-सुन्दरी से तात्पर्य है। श्रीचक्र में जब इनका स्थान बिन्दु है और यह बिन्दु उनका प्रतीक भी है और स्वरूप भी, तब यह श्रीचक्र उन्हीं से उत्पन्न विशाल ब्रह्माण्ड स्वरूप भी हो जाता है, अतएव श्रीचक्र में उपासना करते समय यह भावना की जाती है कि बिन्दु रूप में अवस्थित वही अद्वितीय चिद्शक्ति ही श्री चक्र के समस्त आवरण देवताओं के रूप में अभिव्यक्त हुयी हैं।

ब्रह्माण्ड के प्रतीक रूप में श्रीचक्र

जैसे पिण्ड रूप में इस व्यष्टि शरीर को, जिसे पिण्ड ब्रह्माण्ड भी कहते हैं, (स्थूल) ब्रह्माण्ड का प्रतीक माना जाता है, इस तरह श्रीचक्र को समस्त ब्रह्माण्ड का प्रतीक माना जाता है। जैसे ब्रह्माण्ड सृष्टि-स्थिति-संहार रूप अवस्था त्रयात्मक है, वैसे ही यह देह रूप पिण्ड ब्रह्माण्ड भी उक्त अवस्था त्रयात्मक है, अतएव यह पिण्ड शरीर ब्रह्माण्ड का प्रतीक होता है। इसी तरह सृष्टि, स्थिति, संहार तीनों चक्रों से युक्त होने के कारण यह श्री श्रीचक्र समस्त ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। जैसे ब्रह्माण्ड में तीनों लोक हैं, तीनों गुण हैं और महत्तत्त्वादि सभी तत्त्व, सभी गुण और सभी अवस्थाएँ विद्यमान है। इसी तरह श्री श्रीचक्र भी भूपुर से लेकर बिन्दु पर्यन्त के अवयवों में यथायोग्य सभी लोक, सभी अवस्थायें, सभी तत्त्व और शरीर के सभी चक्रों का और सभी धातुओं का समन्वय होने से यह पिण्ड ब्रह्माण्ड का प्रतीक माना गया है। आगमों के अनुसार सौ ब्रह्माण्ड का एक "**विष्णवाण्ड**" होता है। इस तरह सौ विष्णवाण्ड का एक "**प्रकृत्यण्ड**", सौ प्रकृत्यण्ड का एक "मायाण्ड" और सौ मायाण्ड का एक "**शक्त्यण्ड**" माना गया है। इस प्रकार हमने ऊपर श्री श्रीचक्र को जो ब्रह्माण्ड का प्रतीक स्वरूप कहा गया है उसमें ब्रह्माण्ड का इसी 'शक्ति-अण्ड' से अभिप्राय है। अब इस प्रकार यह श्री श्रीचक्र समस्त ब्रह्माण्ड का प्रतीक होता है और साथ ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायिका श्री महात्रिपुर-सुन्दरी का भी।

इसी प्रकार प्रणव स्वरूप शब्द ब्रह्म का भी प्रतीक होता है। प्रणव में पांच मुख्य अवयव है- अ, उ, म, नाद और बिन्दु। और जो चार अवस्था या रूप है- वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा इन सबका श्री श्रीचक्र सृष्टि-स्थिति-संहार अनाख्याओं और मात्रा रूप पाँच क्रमों में यथायोग्य समन्वय हो जाता है, जिस प्रकार इनका शरीर में स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा एवं मूलाधार में होता है। भेद इतना ही है कि प्रणव गत बिन्दु की अव्यक्त अवस्था का मूलाधार में और व्यक्त अवस्था का आज्ञा चक्र में समन्वय होता है। इसी प्रकार प्रणव में जो छत्तीस कलाएँ या मात्रायें है उनमें से जो उन्तीस हैं वे त्रिवृत्त में है और वे ही त्रिवृत्त की काल रात्रि से लेकर हंसवती तक की मातृकायें होती हैं, और वे ही पिण्ड शरीर की गर्भावस्था, बाल्यावस्था आदि से लेकर निधन तक की एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुरीयातीत तक की अवस्थायें होती हैं। इस तरह ब्रह्माण्ड, पिण्ड ब्रह्माण्ड एवं प्रणव आदि प्रतीक के रूप में श्री श्रीचक्र को लिया जाता है जिसका विस्तृत वर्णन आगमों तथा उपनिषदों में पाया जाता है।

ऊपर भूपुर से बिन्दु तक की सृष्टि आदि तीन चक्रों में विभाजित कर उसमें ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति, संहार रूप तीन अवस्थाओं का समन्वय होना बताया था। अब शरीरगत षट्चक्र के साथ समन्वय करने के लिए और श्रीविद्या के उपासना के लिए इनमें कुल पांच क्रम की कल्पना की जाती है। जैसे कि सृष्टिचक्र, स्थितिचक्र, संहारचक्र, अनाख्याचक्र और भाषाचक्र। जिसमें भूपुर, त्रिवृत्त, षोडशदल और अष्टदल मिलकर "**सृष्टिचक्र**" चतुर्दशार, बहिर्दशार और अंतर्दशार मिलकर "**स्थितिचक्र**" अष्टार, त्रिकोण और बिन्दु मिलाकर "**संहारचक्र**" तथा इनकी समष्टि में द्वितीय बिन्दु तक में "**अनाख्या**" और तृतीय बिन्दु तक में "**भाषा**" होते है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भाषा इन पाँचों को क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा- इन पाँच में अंर्तभूत मानते हैं। यह प्रक्रिया है जिसको श्रीमत में "**श्रीकल्प**" और "**श्रीक्रम**" भी कहते हैं। पर काली कल्प में सृष्टिक्रम मूलाधार में माना जाता है। ऐसे तो श्रीचक्र में मुख्य तीन कल्प हैं पर इनमें तारा कल्प को दक्षिणाम्नाय में काली क्रम से मिला देते हैं पर ऐसा करने पर यहां मुख्य दो ही कल्प या क्रम रह जाते हैं जो "श्रीक्रम" और "**कालीक्रम**" कहे गये हैं। इनमें काली को प्रधान मानने वाले श्री (सुन्दरी) को नीचे रखते

हैं और श्री (सुन्दरी) को प्रधान मानने वाले काली को नीचे रखते हैं। इस प्रकार जब श्री को ऊपर रखा जाता है तो सामान्यतः मूलाधार से विशुद्धि तक "**कालीकल्प**" होता है और आज्ञा चक्र से ब्रह्मरन्ध्र तक "**श्रीकल्प**" होता है तथा जो स्वाधिष्ठान में सृष्टि मानते हैं वे मूलाधार में विश्रान्ति मानते है। कभी-कभी मूलाधार से विशुद्धि तक सृष्टयादि पाँच क्रम और आज्ञा में ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त केवल भाषा माना जाता है। इस प्रकार यहाँ नीचे से मूलाधार रेखा स्वाधिष्ठान से सृष्टि आदि को मान कर ऊपर के ब्रह्मरन्ध्र स्थानीय बिन्दु में जाकर संहार मानते हैं। यहाँ का जो यह संहार शब्द है यह लय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि "**ध्वंस**" या नाश के अर्थ में। इस प्रकार किसी मत में जहां से सृष्टि होती है वहीं आकर संहार अर्थात् लय होता है। इसी प्रकार कोई-कोई बिन्दु में ही सृष्टि मान कर मूलाधार तक आकर फिर बिन्दु में ही पहुँचकर उसका उपसंहार करते हैं।

श्रीचक्र श्रीविद्या के यन्त्र को कहते हैं। श्रीविद्या शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं, जैसे कि-श्रीस्वरूपाविद्या, श्री और विद्या, श्री की अर्थात् श्रीविद्या की विद्या, श्रीप्रदात्री विद्या और श्रीप्राप्ति की विद्या इत्यादि। श्री शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्रसङ्गानुसार लक्ष्मी, सरस्वती, सम्पद्, शोभा आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी यहाँ इसका प्रमुख अर्थ होता है वही परम प्रकृति रूप आदिशक्ति, क्योंकि शास्त्र में इन्हीं को "**श्री**" कहा गया है-

'त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी' *(दुर्गा. १/७६)*

'तुम्हीं श्री हो, तुम्हीं ईश्वरी हो।'

फिर "**श्री**" शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ निकलता है, जैसा की "**श्रियते सर्वैरिति श्रीः**"। क्योंकि "**श्री**" शब्द "**श्रि**" धातु से बनता है और केवल धातु मात्र भी साम्यर्थ से उपसर्ग युक्त अर्थ का बोध कराते हैं। जैसा कि "**श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि**" अर्थात् लक्ष्मी निरन्तर यहां (ब्रज में) आश्रय ग्रहण करती है। इस प्रकार सभी से सेवित और सभी का आश्रय होने से भी "**श्री**" शब्द से यहाँ पर वही "**आदि शक्ति**" कही गई हैं और यही "**आदिशक्ति**" सम्पूर्ण जगत का आधार तथा आश्रय भी हैं। जैसा कि कहा है

"आधारभूता जगतस्त्वमेका"

"सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंश..." *(दुर्गा सप्तशती ११/४, ४/७)*

'जगत् का आधार स्वरूप एक तुम्हीं हो।' सब का आश्रय होकर (तुम्हीं) इस सारे जगत् को- और शास्त्र में इन्हीं को परम प्रकृति, आदिप्रकृति आदि कहा है-

'प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य।'

'परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या।' *(दुर्गा सप्तशती १/७८, ४/७) इत्यादि।*

अब प्रसिद्धि के आधार पर **'श्री'** शब्द का अर्थ लक्ष्मी ही मानें तो भी इसका तात्पर्य उसी आदिशक्ति से होता है।. क्योंकि तन्त्र पुराण आदि में जिस प्रकार उनको **'श्री'** कहा है उसी प्रकार उनको **'लक्ष्मी'** कहा है। जैसा कि'

'या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः' *(दुर्गा सप्तशती ४/५)*

'जो तुम पुण्यात्माओं के घरों में स्वयं श्रीरूप हो।'

'सा श्री रुक्माम्बुजासना।'

'सुवर्णकमल में विराजमान श्री अर्थात् लक्ष्मी वही आदिशक्ति है।'

'श्री कैटभारिहृदयैककृताधिवासा।'

'भगवान् विष्णु के हृदयकमल में निवास करने वाली लक्ष्मी तुम्हीं हो।'

'या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।'

'जो देवी (आदिशक्ति)' सब प्राणियों में लक्ष्मीरूप से स्थित हैं, इत्यादि।

इस प्रकार ऊपर के उद्धरणों से भी **'श्री'** शब्द का अर्थ यहाँ पर वही **'आदिशक्ति'** है। इसी प्रकार **'विद्या'** शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। **'विद्या'** शब्द **'विद्'** धातु से बनता है और विद् का अर्थ होता है- जानना। इसलिये **'विद्या'** शब्द का मुख्य अर्थ होता है- **'ज्ञान'**, इसके अतिरिक्त विद्या की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती, विद्या के साधन स्वरूप शास्त्र आदि में भी **'विद्या'** शब्द प्रयुक्त होता है और इसके साथ-साथ वेद पुराण और आगम शास्त्रों में विशेषरूप से **'मन्त्रवर्णात्मक'** देवता को और उनकी उपासना विधि को भी **'विद्या'** कहा गया है। प्रसङ्ग और अवस्था के अनुसार **'श्रीविद्या'** में जो **'विद्या'** शब्द है उसमें भी क्रमशः प्रायः सभी लागू हो सकते हैं।

श्रीस्वरूपा विद्या

अब यहाँ पर हम 'श्रीविद्या' से प्रथमतः 'श्रीस्वरूपाविद्या' को ही लेते है। यहां पर 'श्री' शब्द और 'विद्या' शब्द का परस्पर सामानाधिकरण्य होने से इन दोनों का आपस में अभेद सम्बन्ध है अर्थात् **'श्री'** और **'विद्या'** का यहाँ पर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं- कि '**श्री**' हैं परमप्रकृतिस्वरूप आदिशक्ति और यही आदिशक्ति यहाँ '**विद्या**' रूप में अभिप्रेत हैं। जब '**विद्या**' शब्द का अर्थ है- ज्ञान और ज्ञान का परब्रह्म-

'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,**' इत्यादि (उपनिषद्)

-तब '**श्री**' शब्द वाच्य जो आदिशक्ति है, वही '**विद्या**' पद वाच्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है, क्योंकि परब्रह्म और परमप्रकृति स्वरूप आदिशक्ति में भेद नहीं है। जो परमप्रकृति है वह परब्रह्म का ही स्वरूप है।

अब इससे यह सिद्ध होता है कि चैतन्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न जो साक्षात् परब्रह्मस्वरूपिणी चिन्मयी आदि प्रकृति हैं वही 'श्री' हैं और यही मन्त्र-वर्णात्मक देवता रूप में अभिव्यक्त हो '**श्रीविद्या**' के नाम उपास्य हैं क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि 'विद्या' का अर्थ '**मन्त्रवर्णात्मक देवता**' भी होता है।

श्री और विद्या

वास्तव में कहें तो '**श्रीविद्या**' का अर्थ है '**श्री**' और '**विद्या**' भी है- '**श्रीसुन्दरी**' और '**विद्या**' है- '**विद्याराज्ञी**' दक्षिणकाली। जैसा कि कहा है-

सा काली द्विविधा प्रोक्ता श्यामा रक्ता प्रभेदतः ।
श्यामा तु दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता श्रीसुन्दरी मता ।।

अर्थात् 'वह काली, श्यामा और रक्ता के भेद से दो प्रकार की कही गयी है। श्यामा "**दक्षिणकाली**" और रक्त्र "**श्रीसुन्दरी**" हैं।' यहां '**कालयति जगत् सर्वम्**' इति काली-इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**काली**' शब्द का '**श्रीविद्या**' से तात्पर्य होता है। इस तरह जिनकी श्रीसुन्दरी और विद्याराज्ञी अर्थात् त्रिपुरसन्दुरी और दक्षिणकाली दोनों रूपों में उपासना होती है वह है '**श्रीविद्या**'- क्योंकि '**श्रीविद्या**' की उपासना में तीन क्रम या कल्प माने गये हैं उनमें तारा कल्प को दक्षिणाम्नाय में कालीकल्प के साथ मिला देने पर केवल दो क्रम मुख्य रूप से उपस्थित होते हैं। अब इन दो में भी कोई काली को प्रधान मानते हैं और कोई सुन्दरी को, और जो भी जिसको प्रधान मानता है वह उसी के क्रम को अपनाता है। जो भी हो, बात एक ही है, क्योंकि पीछे जाकर निर्वाण और सर्वाधिकार के पश्चात् पूर्णमहाक्रम होने के बाद श्रीसुन्दरी और विद्याराज्ञी दोनों एक हो जाती है और फिर साक्षात्

परब्रह्मस्वरूपिणी रह जाती हैं। इसलिये **'वृहद् वडवानल'** तन्त्र में कहा है कि 'श्री महात्रिपुरसुन्दरी और काली में कोई भेद नहीं है और जो इन दोनों को भेददृष्टि से देखता है वह अधोलोक को जाता है। यथा-

महात्रिपुरसुन्दर्याश्चण्डयोगेश्वरी परा। न तयोर्विद्यते भेदो भेदकृन्नरकं ब्रजेत्॥

यहां **'चण्डयोगेश्वरी'** से काली ही अभिप्रेत है। अब इसका अभिप्राय यह होता है कि एक ही आदिशक्ति उपासना क्रम से अनेक रूपों में अभिव्यञ्जित होकर उपासना परिपूर्ण होने पर फिर एक ही रूप में अर्थात् निजस्वरूप में अवस्थित हो जाती है- यह उपासना की चरम अवस्था है। इसी अवस्था में उपासक भी तद्रूप होकर एक हो जाता है और मोक्ष रूप परमपुरुषार्थ का भागी हो जाता है। यही **'श्रीविद्या'** का रहस्यार्थ है और यहीं आकर 'श्रीविद्या' के उपर्युक्त दोनों अर्थ **'श्रीस्वरूपाविद्या'** तथा **'श्री'** और **'विद्या'** का सुन्दर समन्वय होता है और मन्त्रवर्ण, देवता, गुरु तथा साधक या उपासक सब एक रूप हो जाते हैं। जैसा कि कहा है-

मन्त्ररूपा भवेद् देवी देवरूपो गुरुर्भवेत्, गुरुरूपो भवेदात्मा आत्मरूपी मनुर्भवेत्।

अर्थात्, देवी मन्त्ररूप हो जाती है, गुरु देवीरूप बन जाता है आत्मा अर्थात् उपासक गुरु रूप हो जाता है और मन्त्र आत्म रूप बन जाता है। अर्थात् साधक की आत्मा से एकाकार हो जाता है और इसी आत्मसंवित्तिरूप एकाकार अनुभव को विद्वानों ने **'विद्या'** कहा है। जैसाकि-

'आत्माकारेण संवित्तिर्बुधैर्विद्येति गीयते'।। *(लिङ्गपुराण)*

- इस वचन से सूचित होता है

'विकल्परहितं तत्त्वं परमित्यभिधीयते।' *(लिङ्गपुराण)*

इस तरह **'श्रीविद्या'** का **'श्री'** और **'विद्या'** रूप अर्थ लेने पर भी अन्ततोगत्वा यह एक रूप में परिणत होकर एक ही विद्या बन जाती है। यह **'श्रीविद्या'** का दूसरा अर्थ है।

'श्री' की अर्थात् श्रीविद्या की विद्या

'श्रीविद्या' को **'श्री'** की अर्थात् **'श्रीविद्या की विद्या'** के रूप में लेने पर भी पूर्वोक्त रीति से **'श्री'** शब्द का उपर्युक्त **'श्रीविद्या'** रूप ही अर्थ होता है और **'विद्या'** का अर्थ उनका मन्त्रवर्ण या उपासना का होता है। इस प्रकार यहां पर **'श्रीविद्या'** के अर्थ, उनके मन्त्र या उपासना विधि या तो दोनों हो जाते हैं, जो वास्तव में तदाकार वृत्तिरूप है और उस परम तत्त्व रूप **'श्रीविद्या'** का उदय हो सकता है।

श्रीप्रदात्री विद्या

अब **'श्रीविद्या'** को श्रीप्रदात्री विद्या के रूप में लेने पर **'श्री'** शब्द का अर्थ पूर्वोक्त अनादि चिच्छक्तिरूप **'श्रीविद्या'** के साथ-साथ हम सामान्य लक्ष्मी, सरस्वती, शोभा, सम्पद्, विभूति आदि भी कर सकते हैं और विद्या का अर्थ तो पहले की ही तरह करना होता है जिससे **'श्रीविद्या'** का अर्थ प्रसन्न या परिपूर्ण होने पर उपासक को लक्ष्मी, सम्पद्, विद्या, विभूति, शोभा आदि सभी प्रकार की श्री देने वाली विद्या हो जाता है। इस तरह यहाँ पर भी **'श्रीविद्या'** का अर्थ मन्त्र-वर्णात्मक देवता और उपासना दोनों हो सकता है क्योंकि यही विद्या केवल त्रिवर्गरूप **'श्री'** ही नहीं अपितु अपवर्गरूप **'श्री'** भी प्रदान करती है। आराधना की जाने पर वही आदिशक्ति मनुष्यों को सुखभोग, स्वर्ग और अपवर्ग देने वाली होती है।

श्रीप्राप्ति की विद्या

यहां पर भी **'श्री'** शब्द के और विद्या के भी उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्थ लिखे जा सकते हैं। इस प्रकार परब्रह्म स्वरूपिणी आदिशक्तिरूप **'श्री'** को अर्थात् परम पुरुषार्थ को प्राप्त कराने वाली तथा लक्ष्मी-शोभा-सम्पद् आदिरूप **'श्री'** को अर्थात् त्रिवर्ग को प्राप्त कराने वाली विद्या होने से भी इनको **'श्रीविद्या'** कहा है, क्योंकि उपासना सिद्ध होने पर इससे सभी प्रकार की श्री अर्थात् चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हो सकती है, इसलिये **'श्रीविद्या'** को **'श्रीप्राप्ति की विद्या'** भी कह सकते हैं।

'श्रीप्राप्ति की विद्या' और **'श्रीप्रदात्री विद्या'**- ये दोनों अर्थ वास्तव में एक ही अभिप्राय के द्योतक हैं परन्तु प्रदान और प्राप्तिरूप भिन्नाधिकरण अर्थद्वय के गुण प्रधान भाव को लेकर ही हमने इन दोनों का पृथक्रूप में उल्लेख किया है।

इस प्रकार हमने जो **'श्रीविद्या'** के कतिपय अर्थ यहाँ प्रस्तुत किये उन सभी का समन्वयस्थल है- **'श्रीविद्या'** और यहाँ श्रीविद्या श्रीचक्र की अधिष्ठात्री श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी हैं तथा इन्हीं को शास्त्रों में **'विद्या'**, **'महाविद्या'**, आदि नाम से पुकारा गया है। जैसा कि-

"या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता।" *(मा.पु.)*

'जो देवी विद्यारूप में सब प्राणियों में अवस्थित हैं।'

'सर्वदेवमयी विद्या'- 'सर्वदेवतामयी विद्या' *(वामकेश्वरतन्त्र)*

श्रीविद्या के पञ्चदशी, षोडशी आदि एवं दीपनी कामराज आदि अनेक भेद हैं। जिनमें कोई मन्त्रवर्णमूलक हैं और कोई भिन्न-भिन्न उपासकों के उपासनामूलक। इसमें

षोडशाक्षरी होने के कारण एक भेद को **'षोडशी'** कहते हैं जो दशमहाविद्या की षोडशी से भिन्न ही है पर यहाँ केवल श्रीविद्या मात्र को भी **'षोडशी'** कहते हैं। जैसा कि-

कामराजाख्यमन्त्रान्ते श्रीबीजेन समन्विता।
षोडशाक्षरविद्येयं श्रीविद्येति प्रकीर्तिता॥ *(ज्ञानार्णवतन्त्र)*

फिर वहीं पर इनको भुक्ति-मुक्ति देने वाली **'ब्रह्मविद्या'** भी कहा है। यथा-

(वर्णितुं नैव शक्येयं) श्रीविद्या षोडशाक्षरी।
ब्रह्मविद्यास्वरूपा हि भुक्तिमुक्तिफलप्रदा॥

षोडशार्णमहाविद्या

इसीलिये यह परब्रह्मस्वरूपिणी हैं। यथा,

'परब्रह्मस्वरूपा च'- *(वामकेश्वरतन्त्र)*

अतएव यही समस्त जगत् की कारण हैं, सबकी प्रकृति हैं, जगत् की प्रतिष्ठा हैं, सम्पूर्ण विश्व की ईश्वरी हैं तथा समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रही हैं। यही जगन्मयी हैं, जगद्धात्री हैं, सर्वेश्वरी हैं, सर्वशक्तिमयी हैं और सर्वलक्ष्मीमयी हैं। इस सारे जगत् का इन्हीं ने विस्तार किया है। सारे जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार इन्हीं से होता है और यही सबकी शक्तिस्वरूपा हैं, यही विश्वमातृका हैं। अतएव विश्व में जितनी विद्यायें हैं और महाविद्यायें हैं सब इन्हीं के भेद हैं। जितनी स्त्रियाँ हैं, सब इन्हीं के भेद हैं। जैसा कि कहा गया है-

''विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।'' *(दुर्गा स. ११/६)*

और यही समस्त स्त्रियाँ एवं ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि सकल पुरुषों के रूप में भी प्रस्फुरित होती हैं। जैसा कि कहा गया है-

''योषित्पुरुषरूपेण स्फुरन्ती विश्वमातृका'' *(दक्षिणामूर्ति संहिता)*

इसलिये इनको महामाया, महाविद्या, महामोहा, महादेवी आदि कहा गया है।

विष्णुपुराण में भी इनका नाना प्रकार की विद्या के रूप में वर्णन किया गया है। जैसा कि-

''यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने।
आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी॥''

इतना होते हुये भी ये न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, न तृतीय लिंग हैं। ये केवल निष्कल और निरञ्जन हैं। जैसा कि कहा गया है-

''न स्त्री त्वं न पुमाँल्लोके, न स्त्री न षण्ढो न पुमान''

इसलिये कहा है- **''श्रीविद्यैव हि मन्त्राणाम्''**

मन्त्रों में श्रीविद्या ही (श्रेष्ठ) है। *(कुलार्णव आदि तन्त्र)*

उपासना के दो रूप

उपासना के भी दो मुख्य रूप हैं- एक **'बाह्य'**, दूसरा **'आभ्यन्तर'**, जिनको क्रमशः **'बहिर्याग'** और **'अन्तर्याग'** भी कहते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वों को ही उपकरण मानकर मानसपूजा के रूप में ध्यान, धारणा आदि के द्वारा जो आराधना की जाती है, उसको अन्तर्याग कहते हैं। यह भावनात्मक होता है और इससे साधार और निराधार दो भेद होते हैं। बाहर के भौतिक उपकरण आदि से जो पूजा-आराधना की जाती है उसे बहिर्याग कहते हैं। यह क्रियात्मक होता है और इसके भी वैदिक एवं तान्त्रिक दो मुख्य भेद होते हैं। इसका सविस्तार वर्णन सूतसंहिता आदि ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

इस प्रकार श्रीचक्र में नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं बहिर्याग आदि के रूप में उपासना होती है। परन्तु इनमें से जब ध्यानयोगात्मक आभ्यन्तर उपासना करनी होती है तब वह शरीर में ही श्रीचक्र की भावना कर, श्रीचक्र के सम्पूर्ण क्रम को शरीरगत चक्रों में समन्वय कर ऐकात्म्यभाव से की जाती है। इसमें मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अधरादि आम्नायों की तारा, भुवनेश्वरी आदि को यथाक्रम एक को दूसरे में उत्तरोत्तर लीन करते, बालारूप में जाकर, बाला को भी सर्वाम्नायेश्वरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी में लीन करके तब एकरूप हो जाता है। यहीं पर आकर अन्त में दीक्षा का चौंसठ का क्रम पूरा हो जाता है।

इस प्रकार श्रीविद्या के उपासना क्रम में अधराम्नाय से लेकर ऊर्ध्वाम्नाय तक की क्रमोपासना से उत्तरोत्तर शब्दयोग, मन्त्रयोग, भक्तियोग, कर्मयोग एवं ज्ञानयोग प्राप्त होकर अन्त में कैवल्य मोक्षरूप परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है। इनमें मन्त्रयोग आदि सिद्ध होने पर अन्तराय-निवृत्ति, ऐहिक सुख प्राप्ति आदि भी अनायास होने लगते हैं और साधना निर्बाध आगे बढ़ने लगती है और क्रमशः आगे बढ़कर परम-पुरुषार्थ प्राप्त होती हैं वे एक प्रकार से सभी गौण फल हैं और केवल निर्वाण साधना के मार्ग में सहयोगी के रूप में उपस्थित होते हैं क्योंकि सच्चा उपासक यदि बीच में स्वतः उपस्थित होने वाली सिद्धियों को ही मुख्य फल समझने लगा तो वह अपने रास्ते में भटक जायेगा और चरण सिद्धि की प्राप्ति से वंचित रह जायेगा।

उपसंहार

इस प्रकार श्रीविद्या की उपासना अत्यन्त रहस्यमय एवं गूढ़ विषय है जिसका वर्णन उन्हीं परब्रह्मस्वरूपिणी परमेश्वरी के सच्चे उपासक और कृपापात्र बड़े-बड़े सिद्ध भी नहीं कर पाते हैं फिर हम जैसे नगण्य जीव की बात ही क्या है। यह जानते हुये भी इस लेख के लेखक ने इसमें जो धृष्टता दिखायी है वह केवल उन्हीं की प्रेरणा से शिलोञ्छ रूप में इधर-उधर से बटोरे गये, उन्हीं के ज्योतिःप्रकाश के लेश के बिखरे हुए सूक्ष्म कणरूप तिल-चावल की बीरबली खिचड़ी तैयार कर सभी के कल्याणार्थ अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायिका उन्हीं जगदम्बा की सेवा में नैवेद्य परोसने का दुःसाहसमात्र है। इसमें नमक-मिर्च का पानी या घी-शहद छिड़कने का काम जिज्ञासु भक्तों का है।

(लेखक- श्री **पं. कृष्ण प्रसादजी भट्टराई**, दर्शनाचार्य, काठमांडु, नेपाल)

.....कल्याण से साभार